

संचय की मुश्किलें और अपरिग्रह का सुख



गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी
अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय



माया मुश्किल चीज है- यह बात संत कवि कबीरदास ने खूब अच्छी तरह पहचानी थी और खुल कर कही थी. उसे 'महा ठगिनी' तक कह डाला था. सो उस माया के कई रूप देखते न देखते, डूबते-उतराते मैं अब उम्र के पैसठवें पड़ाव पर पहुंच गया हूँ. कब इतना समय बीत गया, खबर ही नहीं लगी. अब भर्तृहरि का कहा कि 'कालो न यातो वयमेव यातः' काल नहीं बीता हम ही बीत गए, कुछ-कुछ समझ में आने लगा है. आज की दुनिया की बढ़ती व्यस्तता हमें अपने बारे में सोचने का अवकाश ही नहीं देती और घटनाओं का तीव्र गति से घटित होना हमें अपने हाल का अहसास ही नहीं होने देता है. एक तरह के सघन काल के मौसम में इसका अंदाज ही नहीं लगता कि हमारे साथ क्या हुआ, हम कौन थे और अब क्या हुए जा रहे हैं. पर समय के साथ शरीर और मन दोनों में ही बदलाव आता है और उनके छोटे बड़े निशान भी चाहे अनचाहे पड़ ही जाते हैं. पर व्यस्त जीवन में यह सब बाद में ही पता चलता है. तब यही लगता है कि 'चिड़िया चुग गई खेत'. पर करें भी क्या? जीवन आयोजित नहीं होता घटित होता है और अक्सर अप्रत्याशित और अनियोजित रूप में.

मैं विश्वविद्यालयीन जीवन से निरंतर जुड़ा रहा. यह एक लंबी अवधि है. इस बीच पढ़ना-पढ़ाना, विचार-विमर्श और उसी प्रसंग में जगह-जगह की खाक छानते दिन, महीने और साल कब कैसे गुजर गए, पता ही नहीं चला.

संयोग यह बना कि गोरखपुर का अपना घर 1977 में छोड़ने के बाद जो सिलसिला शुरू हुआ, उसमें इलाहाबाद में पांच साल विश्वविद्यालय के पास ही ममफोर्डगंज और फिर जॉर्ज टाउन में रहना हुआ, भोपाल में दस साल और दिल्ली में बाईस साल विश्वविद्यालय परिसर में ही रहा. बीच में कुछ विदेश-प्रवास भी रहा पर ज्यादा समय इन्हीं जगहों पर टिका रहा. इन जगहों का रूप भी बदला, लोग भी बदले और साथ ही साथ मेरी व्यावसायिक और पारिवारिक जिम्मेदारियां भी बदलती रहीं. एक पड़ाव पर टिकने की अवधि धीरे-धीरे

लंबी होती गई और प्राध्यापकीय जीवन का आधा भाग दिल्ली में गुजरा.

घर मुझे लौटने के लिए बुलाता रहता है. मेरी समझ से इधर-उधर की दौड़धूप, आपाधापी और मगजपच्ची से थके हारे का बिना शर्त सहारा और आश्रय है घर. घर में एक तरह की नैसर्गिक कोमलता का अहसास होता है जो आत्मा और शरीर दोनों का पोषण करती है. घर को पता रहता है कि आप किस मूड में हैं, क्या छिपा रहे हैं, क्या बता रहे हैं. घर आपके मौन को भी पढ़ लेता है. वह अंतरंग और भरोसे का होता है जहां आप सारे नकली आवरण छोड़ स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं.



अपरिग्रह का नाम तो हम सुनते रहे हैं पर संचय की इतनी मुश्किलें होंगी, इसका तब तक पता नहीं चलता जब तक हमको उन चीजों को ढोना, सहेजना नहीं पड़ता.

गृहस्थी का जाल-माल ढोना कष्टकारक तो है पर जीने के लिए भी जरूरी है. इसे संजीदगी से लेने में ही कल्याण है. गृहस्थी जमाने के चक्कर में हम काम बेकाम का बहुत सा सरंजाम भी इकट्ठा करते चलते हैं और उसका पता तब चलता है जब आप मकान छोड़ने चलते हैं. अपरिग्रह का नाम तो हम सुनते रहे हैं पर संचय की इतनी मुश्किलें होंगी, इसका तब तक पता नहीं चलता जब तक हमको उन चीजों को ढोना, सहेजना नहीं पड़ता. हम जो अच्छा लगा ले लेते हैं. संग्रह की आदत ऐसी पड़ जाती है कि हम बिना विचारे चीजें बटोरते चलते हैं चाहे उनसे कुछ काम सिद्ध हो या नहीं. उनके साथ मोह ऐसा बढ़ता जाता है कि चीजें छोड़ना दुष्कर हो जाता है.

शायद महीने दो महीने पर अपने सामानों की छंटवाई करते रहना चाहिए ताकि सिर पर अनावश्यक भार न रहे पर संचय की महिमा ऐसी कि हम उसी में डूबे रहते हैं और अधिकाधिक संचय में अपने अस्तित्व की महनीयता का प्रमाण ढूंढते रहते हैं. वस्तुतः कामना में डूबना या फिर उससे मुक्त हो जाना दोनों ही स्थितियां जीवन के लिए खतरनाक हैं. ■■■

शुक्रवार, 17 जून 2016

संचय की मुश्किलें